

मिथ्याकरण, क्रान्तियाँ और कार्यक्रम

रॉबिन डनबार

बेकन के बाद की सदियों में दार्शनिक हमेशा ही इस नतीजे पर पहुँचते रहे कि विज्ञान के सिद्धान्त तो बस सामान्य नियम हैं जिन्हें अवलोकनों की एक लड़ी के आधार पर हासिल किया गया है। मसलन, एक विशेष घटनाक्रम के कई उदाहरण

देखने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि 'सभी राजहंस सफेद हैं', या 'प्रत्येक बार जब बिजली चमकती है, तो हमेशा गर्जन होता है'। इस से विचार बना कि विज्ञान के तीन विभिन्न चरण होते हैं: *विवरण*, जिस के बाद सामान्य नियमों का *आगमन* होगा,

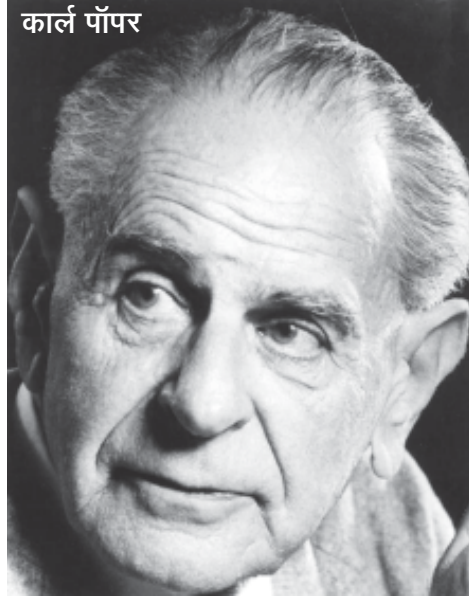
जिन्हें फिर उसी परिघटना (या शायद किसी प्रयोग) के नए अवलोकनों की रोशनी में जाँचा जाएगा, यह देखने के लिए कि वह सामान्य नियम खरा उतरता है कि नहीं। यह नज़रिया वैज्ञानिकों और दार्शनिकों, दोनों में उन्नीसवीं सदी के अन्त तक प्रचलित रहा। बल्कि यह सामाजिक विज्ञानों तथा जीव विज्ञान के भी कुछ क्षेत्रों में इस सदी में काफी बाद तक प्रभुत्व में रहा, और इसे प्रत्यक्षवादी दर्शन यानी पॉज़िटिविज़म के नाम से जाना गया (इस नज़रिए को यह लेबल फ्रांस के एक वैज्ञानिक व दर्शनशास्त्री तथा समाजशास्त्र के निर्माताओं में से एक, ऑगस्त कोम्ट, ने दिया था)। अधिकतर आम लोगों के लिए अब भी विज्ञान का अर्थ है दुनिया के बारे में नए तथ्यों की खोज। यही नज़रिया था जिसने विक्टोरियन युग में जीव वैज्ञानिक तथा भूवैज्ञानिक संग्रहों की असाधारण प्रचुरता के लिए औचित्य प्रदान किया और इसके चलते सदी के आखिर में इन संग्रहों को बसाने के लिए बड़े-बड़े राष्ट्रीय संग्रहालयों का निर्माण हुआ।

प्रत्यक्षवाद को चुनौतियाँ

सूत्रबद्ध होने से पहले ही, विज्ञान का यह एकरेखीय दृष्टिकोण, कुछ वैज्ञानिकों के काम करने के तरीके की वजह से कमज़ोर पड़ने लगा था। अनुभवों के आधार पर सामान्य नियमों का एकत्र किया जाना उस तरीके का अच्छा वर्णन हो सकता है जिसके

तहत उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भी जीव-वैज्ञानिक और भूवैज्ञानिक कार्य करते थे, लेकिन सत्रहवीं सदी की तथाकथित वैज्ञानिक क्रान्ति भौतिक विज्ञानों में आगे बढ़ने का एक अलग तरीका प्रदान कर चुकी थी। यहाँ कारणों के सिद्धान्त उत्पन्न करने को विकास की चाभी माना गया, न कि विवरणात्मक सामान्य सिद्धान्तों की तेज़ बढ़ोतरी को।

इसी बीच, विज्ञान के प्रत्यक्षवादी (पॉज़िटिविस्ट) नज़रिए के सामने भी दर्शनशास्त्रीय चुनौतियाँ थीं। क्योंकि बहुत पहले, अठारहवीं सदी के मध्य में ही महान स्कॉटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम ने इस ओर इशारा किया था कि सामान्यीकरणों के आगमन (इन्डक्शन) में एक गम्भीर समस्या है : आगमनात्मक (इंडक्टिव) प्रणाली की सफलता की एक ही गारण्टी है - कि वह पहले भी सफल रही हो। लेकिन यह स्वयं भी एक सामान्यीकरण है, और क्योंकि अगला उदाहरण इस विशेष सामान्यीकरण को गलत सिद्ध कर सकता है, इसलिए हम एक चक्रव्यूह में फँस जाते हैं जिसके चलते हम एक सामान्यीकरण को, किसी अन्य उतने ही डगमग सामान्यीकरण की मदद से, उचित ठहराने की कोशिश करते हैं। इस लिए आगमनात्मक प्रणाली घातक तौर पर त्रुटिपूर्ण है, और इससे जुड़ा अनुभव-आधारित विज्ञान का कोई भी रूप लाज़िमी तौर पर कमज़ोर ही पड़ता है। आगमन में ज्ञान की



कार्ल पॉपर

करके देखना)। पॉपर इस बात को समझते थे कि विज्ञान को आगमन का हवाला देकर तार्किक अर्थों में सही सिद्ध करने की कोशिशें असफल ही हो सकती हैं। इसकी बजाए उन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि वैज्ञानिक वास्तव में केवल किसी निश्चित प्राकृतिक घटना के उदाहरणों को ही एकत्र नहीं करते, और उनसे सामान्य निष्कर्ष प्राप्त नहीं करते, बल्कि वे तो संसार की प्रकृति के बारे में परिकल्पनाएँ उत्पन्न करते हैं (हमेशा तो नहीं लेकिन कभी-कभी आगमनात्मक सामान्यीकरण से) और फिर वे इन परिकल्पनाओं को सख्ती से जाँच-पड़ताल के लिए समर्पित

करते हैं। पॉपर का इस बात पर बल था कि ये जाँच किसी सिद्धान्त विशेष को सिद्ध करने का प्रयास नहीं होती (आगमन का एक रूप) बल्कि ये तो उसे गलत सिद्ध करने का प्रयास होती है। उनकी दलील थी कि तार्किक नज़रिए से देखें तो सबूत को कभी भी हासिल नहीं किया जा सकता। हम किसी बात को पक्के तौर पर उन कारणों से ही गलत साबित कर सकते हैं जिनकी ओर ह्यूम ने इशारा किया था: किसी एक सामान्य निष्कर्ष को गलत सिद्ध करने के लिए तो खण्डन-भरा एक ही विपरीत उदाहरण काफी है जबकि सबूत के लिए सम्बद्ध प्राकृतिक घटना के प्रत्येक उदाहरण

निश्चितता की गारण्टी का अभाव है जब कि तर्कशास्त्र तथा गणित जैसी निगमनात्मक (डिडक्टिव) विद्याओं में यह मौजूद है।

कार्ल पॉपर

बेशक, इस विरोधाभास का हल निकालने का सबसे प्रख्यात प्रयास ऑस्ट्रियन दार्शनिक कार्ल पॉपर द्वारा किया गया। 1930 के दशक में पॉपर खास तौर पर इस बात पर ध्यान दे रहे थे कि किस प्रकार विज्ञान के तथा पराभौतिकी (मेटाफिज़िक्स) के कथनों में अन्तर किया जाए (यानी बाहरी वैधता लिए हुए कथनों को विशुद्ध, कोरे विश्वास वाले कथनों से फर्क

को प्रमाण के रूप में व्यवस्थित करने का नामुमकिन काम करना होगा (और शायद इसमें वे उदाहरण भी शामिल करने हों जो अभी हुए ही नहीं!)। दूसरे शब्दों में, प्रयोग जाँच की जा रही परिकल्पना को झुठलाने के लिए किए जाते हैं, न कि उसके सत्य को प्रदर्शित करने के वास्ते। और पॉपर का इसरार था कि यह बात आगमन (इन्डक्शन) की समस्या के चक्रव्यूह को तोड़ती है। यदा-कदा खण्डन करने वाला विपरीत उदाहरण तो विज्ञान के लिए दुःस्वप्न होने की बजाए बिलकुल वह चीज़ है जिसकी तलाश वैज्ञानिक को रहती है - यह तो विज्ञान की उत्तमता का प्रतीक है, उसकी विशिष्टता और शुद्धता का प्रमाण-चिन्ह है।

इसी से पॉपर ने *मिथ्याकरण* (फॉल्सिफिकेशन) का शब्द गढ़ा, क्योंकि उनके मुताबिक यही तो था जो वैज्ञानिक असल में करते हैं। तकरीबन आधी सदी तक पॉपर द्वारा दी गई विज्ञान की इस अवधारणा ने विज्ञान के दर्शनशास्त्र पर अपनी धाक बनाए रखी। मिथ्याकरण की प्रक्रिया के रूप में विज्ञान की इस अवधारणा का प्रभाव अब तक भी वैज्ञानिकों में है। लेकिन अन्ततः यह स्पष्ट हो गया कि असल में वैज्ञानिक हमेशा पॉपर के सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करते थे। कुछ मौकों पर वे बहुत ही कम या बिना किसी सबूत के भी परिकल्पनाओं को स्वीकार करते प्रतीत होते थे; अन्य मौकों पर जाँचों द्वारा गलत सिद्ध हो जाने पर

भी परिकल्पनाओं को रद्द करने से इन्कार कर देते थे। वास्तव में तो पॉपर का सिद्धान्त बहुत ही अधिक सख्त सिद्ध होता है और यदि इसे कड़ाई से लागू किया जाता है तो बहुत ही कम समय में शायद हमें विज्ञान को ही त्याग देना पड़े - वैज्ञानिकों के पास जाँचने को परिकल्पनाएँ ही नहीं रहेंगी क्योंकि संसार के बारे में उनका ज्ञान बहुत ही सीमित है। पॉपर के वृत्तान्त में दो कमियों की वजह से ऐसा प्रतीत होता है।

सिद्धान्तों की सीमाएँ

पॉपर के सिद्धान्त के लिए एक मुश्किल तो यह है कि अधिकतर विज्ञान सिद्धान्तों को गलत सिद्ध करने में नहीं बल्कि उन बिन्दुओं को चिन्हित करके, जहाँ ये सिद्धान्त काम नहीं करते (यानी वे क्षेत्र जिनमें वे गलत या दोषपूर्ण भविष्यवाणी करते हैं), उन्हें लागू किए जाने की सीमाओं को परिभाषित करने में लगा होता है। भौतिकीविद् आजकल इस सवाल से बहुत उद्वेलित हैं कि क्या आधुनिक क्वांटम भौतिकी के सिद्धान्त पूरे ब्रह्माण्ड पर लागू होते हैं या फिर वे किन्हीं हालात में नाकामयाब रहते हैं (जैसे कि अन्तरिक्ष में ब्लैक होल्ज़ में मौजूद परिस्थितियाँ या लगभग 15 अरब साल पहले ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय बिग बैंग के विध्वंसक विस्फोट के दौरान)। बिग बैंग की असाधारण और अजीब परिस्थितियों को फिर से जीवन्त करने की कोशिश में ही



CERN गोलाकार सुरंग

यूरोपियन देशों द्वारा दी गई निधि से स्विट्ज़रलैंड में CERN जैसी, अत्यन्त विशाल मशीनों पर धन लगाया गया है; धरती के बहुत नीचे बनाई गई इन विशाल गोलाकार सुरंगों में भीमकाय चुम्बक उप-परमाणवीय कणों (सब-एटॉमिक पार्टिकल्स) की रफ्तार को लगभग प्रकाश की गति की हद तक ले जाती हैं और फिर उन्हें एक-दूसरे से टकरा देते हैं। इसके फलस्वरूप होने वाली टकराहटों से ऊर्जा की ज़बरदस्त मात्रा निकलती है और इस प्रकार भौतिक विज्ञानियों को मौका मिलता है कि वे कणों के व्यवहार को ऐसी परिस्थितियों में जाँच सकें जो सूरज जैसे सितारों के भीतर प्रचण्ड परमाणु भट्टियों में पाए जाने वाले हालात की हद को भी पार करती हों। इन हालात में क्या होना चाहिए, इस

बारे में यदि क्वांटम सिद्धान्त द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध होती हैं, तो हम जान जाएँगे कि इन अति की परिस्थितियों से निपटने के लिए एक नई ही तरह की भौतिकी का विकास करना होगा। इससे पहले की न्यूटोनियन भौतिकी की ही तरह क्वांटम भौतिकी भी इस ब्रह्माण्ड की असली, मूलभूत भौतिकी का केवल एक अनुमान ही साबित होगी।

दूसरी समस्या यह है कि पॉपर की मिथ्याकरण की कार्यविधि इस नज़रिए पर आधारित प्रतीत होती है कि वास्तविक संसार में कारणात्मक सम्बन्ध केवल 'एक कारण, एक प्रभाव' जैसी प्रक्रियाएँ हैं। असल में तो वास्तविक संसार में अधिकतर प्राकृतिक घटनाएँ कई परिवर्तनशील तत्वों के कारण होती हैं और उनसे प्रभावित होती हैं, जैसा

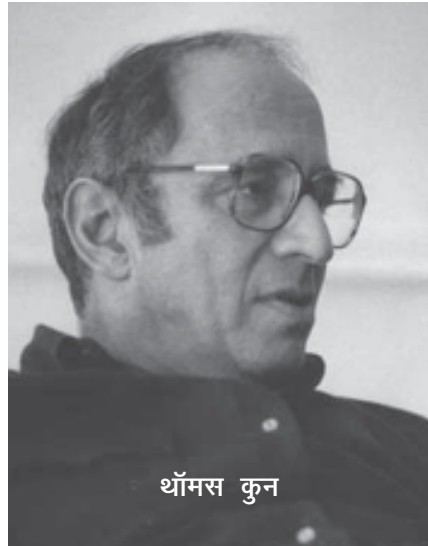
कि हमने किसान और फसलों के उदाहरण में पाया। यदि हम इस तर्काधार को जाँचने लगे कि 'वसन्त की बरसातों के तुरन्त बाद बोई गई फसलें सबसे बेहतर विकसित होती हैं', तो हो सकता है हम पाएँ कि ऐसा नहीं होता क्योंकि हमने उस मिट्टी की किस्म को ध्यान में नहीं रखा जहाँ प्रयोग किया गया, या फिर तापमान का ध्यान नहीं किया, जब कि ये दोनों बातें फसल के विकास को प्रभावित करती हैं, और शायद ये हमारी जाँच के उस स्थान पर बरसात के प्रभाव को बेअसर कर दें। पॉपर मुख्य तौर से न्यूटोनियन भौतिकी जैसी विद्या की शाखाओं से प्रभावित थे जिनमें अधिकतर घटनाओं के एक मुख्य, निर्णायक कारण पर आधारित सरल स्पष्टीकरण होते हैं - जब एक सेब पेड़ पर से अलग होता है, वह गुरुत्व के कारण धरती पर गिरता है; जैसे ही सूरज क्षितिज पर उभरता है, सवेरा होता है।

एक बार फिर, वास्तविक जीवन की अधिकतर स्थितियों में भ्रमित कर देने वाले, पेचीदा परिवर्तनशील कारकों की समस्या हमें चक्कर में डाल देती है। पॉपर के मिथ्याकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करना बहुत सावधानी से नियंत्रित की गई प्रायोगिक परिस्थितियों में ही उचित होगा। लेकिन फिर भी यह तब ही सफल होगा यदि हम सर्वज्ञानी हों और भ्रमित कर देने वाले सभी

परिवर्तनशील कारकों को प्रारम्भ से ही पहचान पाएँ। स्पष्ट है कि यदि हमें यह सब मालूम होगा तो प्रयोग की चिन्ता करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी!

थॉमस कुन

पॉपर के असमंजस के हल की शुरुआत 1950 के दशक में हुई। भौतिक विज्ञानी से विज्ञान के इतिहासकार बने अमेरिकन थॉमस कुन (Thomas Kuhn) के लिए यह दिलचस्पी का विषय था कि उन्नीस्वीं सदी में वैज्ञानिकों ने इतने लम्बे समय तक न्यूटन के सिद्धान्त को त्यागने से इन्कार क्यों किया - बावजूद इसके कि उसके विरुद्ध बहुत-से सबूत इकट्ठा हो रहे थे। भौतिक विज्ञान के इतिहास



थॉमस कुन

के गहन अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विज्ञान झटकों में आगे बढ़ता है। बड़े-बड़े अहम विचार अन्ततः तब 'वैज्ञानिक क्रान्तियों' को जन्म देते हैं जब किसी विशेष विद्याक्षेत्र के सक्रिय सदस्य अचानक किसी नए प्रतिमान (या पैराडाइम) पर सहमति बना लेते हैं। एक बार पैराडाइम शिफ्ट हो जाता है तो, कुन की शब्दावली में, सभी 'सामान्य विज्ञान' (नॉर्मल सायंस) के एक समयकाल में आ टिकते हैं और नए पैराडाइम के निहितार्थों को जाँचने-परखने लगते हैं। इस समयकाल में उद्देश्य होता है नए पैराडाइम को लागू किए जाने की सीमाओं को निर्धारित करना - उसकी 'सीमा शर्तों' को तय करना। आखिरकार, नए सिद्धान्त द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ भी गलत साबित होनी शुरू हो जाएँगी। वैज्ञानिक पहले पहल तो सिद्धान्त को तुरन्त नहीं त्यागेंगे। बल्कि वे तो उस की प्रतिरक्षा में आएँगे। ऐसी खास, एवजी तौर पर सहायक परिकल्पनाओं का हवाला दिया जाएगा जो इस बात का स्पष्टीकरण दें कि क्यों इस सिद्धान्त द्वारा केवल उन ही परिस्थितियों में भिन्न भविष्यवाणियाँ दी जानी चाहिए जिनमें वह झूठी भविष्यवाणियाँ करता लगता है। लेकिन आखिरकार गलत साबित हुई भविष्यवाणियों का बोझ इतना अधिक हो जाएगा कि सिद्धान्त को ही त्याग देना पड़ेगा। इस मौके पर कोई-न-कोई किसी एक नए पैराडाइम का सुझाव देगा, एक वैज्ञानिक

क्रान्ति आएगी, और पूरा चक्र एक बार फिर से चलेगा।

कुन की विज्ञान की अवधारणा पॉपर द्वारा दी गई अवधारणा के बिलकुल विपरीत, उसके विरोध में खड़ी प्रतीत होती है, और बहुत-से लोगों ने इन दोनों दृष्टिकोणों को पूर्ण रूप से विपरीत दिशा में स्थित माना है। लेकिन ऐसा करना कुछ बातों में उन दोनों की दलीलों की प्रकृति को गलत समझने के बराबर है। पॉपर का कथन एक नुस्खे की तरह है जो बताता है कि हालात को ठीक अवस्था में लाना हो तो वैज्ञानिकों को क्या करना चाहिए; कुन का कथन मानकीय (नॉर्मेटिव) है, वह बताता है कि वैज्ञानिक वास्तव में क्या करते हैं। वैज्ञानिकों के कार्य के तौर-तरीके के बारे में कुन का वृत्तान्त इस सन्दर्भ में कुछ नहीं कहता कि दिया गया सिद्धान्त या पैराडाइम सही है या गलत - वह केवल इतना कहता है कि वैज्ञानिक एक समूह के तौर पर उसे स्वीकारने या अस्वीकार करने की ओर प्रवृत्त हैं। ऐसा इसलिए किया जा सकता है कि वह सिद्धान्त पुराने सिद्धान्त के मुकाबले उपलब्ध प्रमाण का बेहतर स्पष्टीकरण दे पाता है। या फिर ऐसा किसी मनमाने कारण से भी किया जा सकता है (जैसे कि गोटी के खेल का नतीजा या फिर सामूहिक स्तर पर राजनैतिक आस्था के कारणों से)।

यह देख पाना मुश्किल नहीं है कि किस प्रकार यह आखिरी विकल्प इस

नज़रिए की ओर ले जा सकता है कि विज्ञान के सिद्धान्त उस संस्कृति की देन हैं, जिसमें एक वैज्ञानिक रचा-बसा है, और उनकी कोई भी वास्तविक बाहरी वैधता नहीं है। कभी-कभी कुन स्वयं भी ऐसा ही सापेक्षवादी (रिलेटिविस्टिक) नज़रिया अपनाने के इच्छुक लगते हैं। लेकिन दूसरे ढंग से व्याख्या करें तो कुन के विचार इस तर्कशील नज़रिए के अनुकूल हैं कि वैज्ञानिक नए पैराडाइम को तब ही अपनाते हैं जब उन्होंने पुराने को विनाश की हद तक जाँच लिया हो और उससे बेहतर, उसका स्थान ले पाने वाला नया पैराडाइम ढूँढ लिया हो।

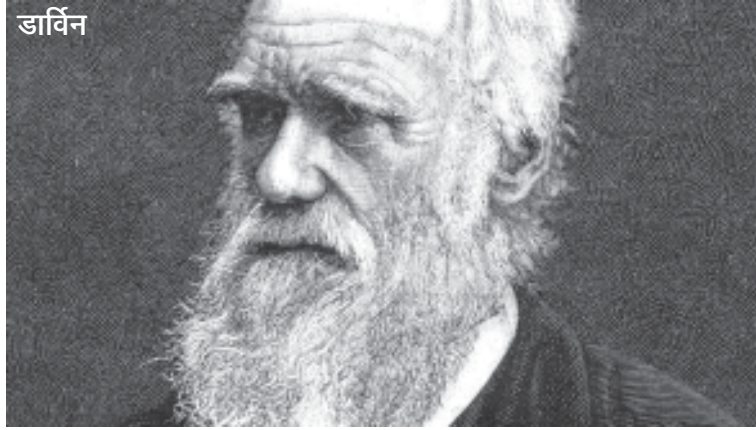
बिलकुल यही व्याख्या हंगरी के दार्शनिक इम्रे लकातोश ने भी दी है। उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया है कि वैज्ञानिक कुछ मौकों पर तो पॉपर के नज़रिए के मुताबिक चलते हैं लेकिन अन्य मौकों पर कुन के नज़रिए के मुताबिक। लकातोश की दलील थी कि प्रकट रूप में दिखने वाला यह विरोधाभास केवल इसलिए उभरता है कि विज्ञान के दार्शनिक इस बात को पहचान नहीं पाए कि दोनों स्थितियों में बिलकुल ही अलग तरह के सिद्धान्तों का मसला था। लकातोश ने सुझाया कि जिस संसार में वैज्ञानिक कार्यरत होते हैं, वह कई परतें लिए रहता है। उसमें कुछ सिद्धान्त एक प्रोग्रामयुक्त तरीके से कार्य करते हैं जबकि अन्य सिद्धान्तों का ध्यान इस बात की बारीकियों पर रहता है कि स्वयं प्रोग्राम

कार्य कैसे करता है। प्रोग्राम सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिकों को कोई विशेष प्रयोग करने का या फिर संसार को एक खास ढंग से देखने का कारण प्रदान करता है - वह कुन के पैराडाइम की तरह है। इसी प्रोग्राम के अन्तर्गत वैज्ञानिक सहायक परिकल्पनाएँ उत्पन्न करते हैं जो विशेष तौर पर दर्शाती हैं कि ढाँचागत सिद्धान्त व्यवहार में कैसे काम करता है - वैज्ञानिक इन्हें ही बारीकी से जाँचते हैं, और पॉपर की तर्ज़ पर स्वीकारते या अस्वीकारते हैं।

जैव-विकास - एक उदाहरण

डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया के अन्तर्गत होने वाले जैव-विकास का सिद्धान्त जीवविज्ञानियों के लिए एक ढाँचागत सिद्धान्त प्रदान करता है - वह उन्हें अपने प्रेक्षणों को एक खास ढंग से व्याख्यायित करने के लिए प्रेरित करता है और जाँचने के लिए कुछ विशेष परिकल्पनाएँ सुझाता है। सहायक परिकल्पनाएँ सही हो भी सकती हैं और नहीं भी, लेकिन उनका गलत सिद्ध होना अपने आप में इस बात का प्रमाण नहीं है कि ढाँचागत सिद्धान्त गलत है। इससे तो हमें केवल यह मालूम होता है कि ढाँचागत सिद्धान्त अपने प्रभाव उस रूप में उत्पन्न नहीं करता जैसा कि माना गया था। मैं एक और अधिक स्पष्ट उदाहरण देता हूँ।

जैव-विकास का सिद्धान्त हमें एक ऐसा सैद्धान्तिक ढाँचा देता है जिसके



चलते हम जीवाश्मों (फॉसिल्स) के बिखरे हुए रिकॉर्ड का कुछ अर्थ निकाल सकते हैं। 1970 के दशक के प्रारम्भ तक बड़े स्तर पर यह माना जाता था कि इन्सानों और चिम्पांज़ियों का अन्तिम साँझा पूर्वज तकरीबन 150 लाख साल पहले हुआ था। इस बात की जड़ में आधुनिक इन्सानों और रमापिथेसीस (Ramapithecines) नामक बिना पूँछ वाले, एशियाई मूल के बन्दरों के दाँतों में पाई जाने वाली समानताएँ थीं। लेकिन आण्विक जीवविज्ञान (मॉलिक्युलर बायोलॉजी) में नई तकनीकें आईं, और कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के एलन विल्सन तथा उनके साथियों ने इन्सान और बन्दर के खून के प्रोटींस की तुलना के आधार पर पाया कि इनका अन्तिम साँझा पूर्वज सम्भवतः केवल 30 से 50 लाख साल पहले तक जीवित था। इसके बाद बहुत बहस-

मुबाहिसा हुआ, लेकिन अन्त में आण्विक जीवविज्ञान बाज़ी ले गया। शरीर-रचना विज्ञानियों ने एक बार फिर जीवाश्मों को बहुत ही करीब से, ध्यान से जाँचा और इस नतीजे पर पहुँचे कि रमापिथेसीस वास्तव में शायद इस समय के अकेले जीवित एशियाई महावानर ओरांगुटान के पूर्वज थे। गलती केवल एक विशेषता, यानी दाँतों की चमकीली तह (इनेमल) की मोटाई पर अत्यधिक निर्भरता की वजह से हुई थी, जो इन्सानों और बन्दरों, दोनों में केवल इसलिए पाई जाती थी क्योंकि वे एक से स्थलीय पर्यावरण में रहते थे। इन्सान के जैव-विकास का नक्शा फिर से बनाया गया लेकिन स्वयं जैव-विकास का सिद्धान्त किसी रूप में प्रभावित नहीं हुआ।

वास्तव में, लोगों में व्याप्त आम विश्वास के विपरीत, जैव-विकास के

सिद्धान्त को जीवाश्मों के अभिलेखों (फॉसिल रिकॉर्ड्स) से प्राप्त किसी भी सबूत के आधार पर गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता - जीवाश्मों के अभिलेख तो हमें केवल यह बता सकते हैं कि जैव-विकास कैसे हुआ और किन रास्तों से होता हुआ चला, न कि यह कि जैव-विकास का सिद्धान्त सही है या नहीं। जैव-विकास के सिद्धान्त को जैव-विकास की संरचनाओं (जैसे, प्राकृतिक चुनाव) के अध्ययनों के ज़रिए ही गलत सिद्ध किया जा सकता है, और ये अध्ययन जीवों की जीवित प्रजातियों पर ही किए जा सकते हैं। जीवाश्मों के अभिलेखों से अर्थ निकालने की कोशिश में हम यह मान कर चलते हैं कि जैव-विकास का सिद्धान्त सही है और उसके ढाँचागत सिद्धान्त की वैधता की जाँच अन्य वैज्ञानिक कर रहे हैं।

लकातोश ने एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक बात यह भी रखी कि इस बात में कोई दम नहीं है कि किसी ढाँचागत सिद्धान्त को केवल इसलिए अस्वीकार कर दिया जाए क्योंकि उस के विरुद्ध प्रमाण हैं। ढाँचागत सिद्धान्त न हो तो हम प्रश्न नहीं कर पाएँगे, न ही कोई प्रयोग निर्मित कर पाएँगे। इसलिए एक ढाँचागत सिद्धान्त को तब तक त्यागने की कोई तुक नहीं है जब तक कि हमारे पास उसके विकल्प के रूप में कोई बेहतर ढाँचागत सिद्धान्त न हो। एक विकल्प के अभाव में किसी ढाँचागत सिद्धान्त को त्यागना बस

उतना ही लाभदायक है जितना कि एक कैलेण्डर न होने की स्थिति में लोगों से मिलने के समय को पूर्व निश्चित कर सिलसिलेवार दर्ज करना। बेहतर है कि किसी विकल्प के उभरने तक पुराने सिद्धान्त को प्रयोग में लाया जाता रहे, चाहे वह बदनाम ही क्यों न हो गया हो। बल्कि विकल्प तलाशने का सबसे बेहतर तरीका है कि पुराने पैराडाइम द्वारा उत्पन्न परिकल्पनाओं को लगातार जाँचा जाता रहे। ऐसा करने से हमारे पास कम-से-कम यह मौका तो रहेगा कि कोई ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य सामने ले आया जाए जो हमें एक नए पैराडाइम की ओर ले जाए।

अवलोकन, परिकल्पना व परीक्षण

वैज्ञानिकों के वास्तव में काम करने के तौर-तरीकों के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य सिद्धान्त और तथ्य-समूहों के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण पुनर्व्याख्या की दिशा में ले गए। याद रहे कि अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध की व्याख्या एक-रेखीय सम्बन्ध के रूप में की थी:

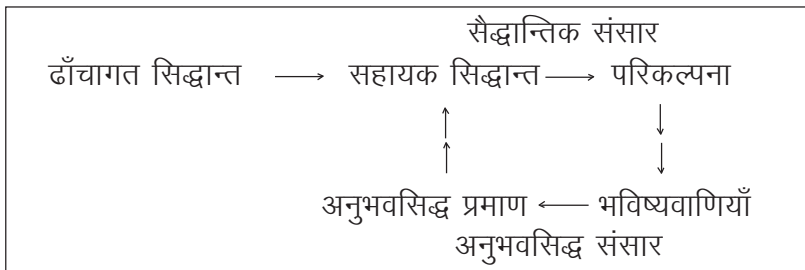
प्रेक्षण - परिकल्पनाएँ - परीक्षण

एक वैज्ञानिक द्वारा तब तक अवलोकन आधारित जानकारियाँ एकत्रित की जाती हैं जब तक कि वे सामान्यीकरण (यानी एक परिकल्पना) के छोर तक पहुँचने के लिए पर्याप्त संख्या में न हो जाएँ, और फिर वह उस परिकल्पना को नए अवलोकन-प्रेक्षण की रोशनी में जाँचता है।

बीसवीं सदी के दौरान विचारों में आए परिवर्तनों से सिद्धान्त के संसार और अनुभवसिद्ध तथ्य-समूहों के संसार में एक बहुत ही तीखा विभाजन हुआ। जैसा कि महान जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कांट ने एक सदी से भी अधिक पहले के समय में कहा था, सिद्धान्त ही हैं जो हमारे लिए यह गुंजाइश निकालते हैं कि हम जो भी देखते हैं, उसका कुछ अर्थ निकाल पाएँ। किसी विचार या सन्दर्भ से काट कर अलग-थलग देखा जाए तो एक जानवर का सम्भोग की प्रक्रिया में होना कोई आन्तरिक मायने नहीं रखता - इसे एक जानवर के दूसरे की पीठ पर लेटे होने के सिवाय किसी और नज़र से नहीं देखा जाएगा। हम इस दृश्य को बहुत अच्छे से वर्णित कर पाएँगे लेकिन यह व्यवहार तब ही हमारे लिए महत्वपूर्ण माना जाएगा यदि हम प्रजनन के किसी सिद्धान्त तक पहुँच पाएँ जो हमें उस व्यवहार के नतीजों के बारे में भी कुछ बताए। इससे भी अधिक स्पष्ट उदाहरण हमें आण्विक (पार्टिकल) भौतिकी से प्राप्त होता है: ऊपरी तौर पर देखें तो एक

क्लाउड चेम्बर तस्वीर पर उप-परमाण्वीय अणुओं (सब-ऐटॉमिक पार्टिकल्स) में टकराहट के पश्चात् प्रकट होने वाली बिखरी हुई-सी पंक्तियाँ यँ ही, बेतरतीब ढँग से खींची गई पंक्तियाँ हैं। वे महत्व (या आप चाहें तो अर्थ) तो तब ग्रहण करती हैं जब अणु (पार्टिकल) भौतिकी के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में उनकी व्याख्या की जाती है: उनमें से एक अब W^+ बोसोन का ट्रैक बन जाती है, दूसरी Z^0 पार्टिकल हो जाती है, तीसरी फोटोन, आदि-आदि। सैद्धान्तिक ढाँचे हमारा ध्यान प्रकट संसार की कुछ विशेष प्राकृतिक घटनाओं की ओर दिलाते हैं। उन्हें अवलोकनों के एकत्रित समूहों से आगमन (इन्डक्शन) के ज़रिए हासिल किया जा सकता है, लेकिन ऐसा किए जाने की ज़रूरत नहीं है, और अधिकतर विकसित विज्ञानों में ऐसा किया भी नहीं जाता।

प्रभावी तौर पर, विज्ञान की नई अवधारणा गोलाकार थी, न कि एक-रेखीय। इसमें दो बिलकुल भिन्न, अलग दिखाई देने वाले लेकिन समानान्तर संसार थे (सैद्धान्तिक संसार जिसमें



सिद्धान्तों का वास था, तथा अवलोकनों का अनुभवसिद्ध संसार) जो परिकल्पनाओं की जाँच से प्राप्त प्रतिक्रियाओं के माध्यम से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध थे। (फ्लो चार्ट पिछले पृष्ठ पर देखिए)

विज्ञान की कार्यशैली की यह परिकल्पना *परिकल्पनिक एवं निगमनात्मक मॉडल* (हाइपोथेटिको-डिडक्टिव मॉडल) के नाम से जानी जाती है - यह भद्दा-सा नाम दार्शनिक कार्ल हेम्पल द्वारा दिया गया है। सिद्धान्त मूलतः इस बात के मॉडल होते हैं कि संसार कैसे कार्य करता है। हम आवश्यक तौर पर एक सैद्धान्तिक संसार के मध्य रहते हुए कार्य करते हैं, यह निष्कर्ष निकालते हुए कि मॉडल की मान्यताओं और आधारभूत पूर्व-धारणाओं से क्या परिणाम निकलेंगे। उसके बाद हम मॉडल द्वारा की गई भविष्यवाणियों की यथार्थ से तुलना करते हुए उसकी वैधता को जाँचते हैं। जब तक मॉडल पर आधारित भविष्यवाणियाँ यथार्थ से मेल खाती हैं, हम मॉडल को विकसित करने की प्रक्रिया को जारी रखते हैं। लेकिन जब वह वास्तविकता की सही भविष्यवाणी करने में असफल हो जाता है तो हम उसी मुताबिक उसमें कुछ बदलाव लाने की कोशिश करते हैं या फिर उससे बेहतर किसी मॉडल की तलाश करते हैं। दूसरे शब्दों में विज्ञान अपनी ही गलतियों से सीखता है। असलियत तो यह है कि वह डार्विनियन अन्दाज़ में व्यवहार

करता है - केवल सफल सिद्धान्त ही बचे रह सकते हैं।

विज्ञान का सर्चलाइट मॉडल

हाँ, यह तो है कि ज्ञान के सभी क्षेत्रों की प्रारम्भिक वर्णनकारी अवस्थाओं में आगमनात्मक पुट (इन्डक्शन) रहता है। लेकिन इसके साथ ही, ज्ञान का जो भी क्षेत्र इस अवस्था में ही जड़ हो जाता है वह तो बस संसार में मौजूद सह-सम्बन्धों का विवरण देने के अलावा और कुछ भी नहीं कर सकता। संसार जैसा है, उसका वैसा ही होना क्यों ज़रूरी है, ऐसे स्पष्टीकरण देकर वह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक दर्जा हासिल नहीं कर सकता। इसे तो केवल बौद्धिक संग्रहण के एक रूप के तौर पर ही देखा जा सकता है। लेकिन जब कोई ज्ञान का क्षेत्र इस विवरणात्मक अवस्था में से बाहर निकल आता है तो हम पाते हैं कि सिद्धान्तों का अस्तित्व एक अनुभवसिद्ध संसार में होने की बजाए एक सैद्धान्तिक या मीमांसात्मक संसार में होता है: सिद्धान्तों को धारणाओं के ऐसे समूहों के आधार पर विकसित किया जाता है जो उसूलन वास्तविक संसार से काफी स्वतंत्र होती हैं।

विज्ञान के इन दो नज़रियों को पॉपर द्वारा ज्ञान के क्रमशः *बकेट* और *सर्चलाइट* मॉडलों के तौर पर वर्णित किया गया। आगमनात्मक (या कुकबुक) विज्ञान कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे किसी बाल्टी को रेत से भर दिया जाए (इस उम्मीद पर कि कुछ-न-कुछ दिलचस्प

तो सामने आ ही जाएगा); औपचारिक (या स्पष्टीकरण खोजने की कोशिश करने वाला) विज्ञान कुछ बहुत ही विशेष सिद्धान्तों द्वारा उत्पन्न भविष्य-वाणियों को वास्तविक संसार की खोज-परख के लिए औज़ार के तौर पर इस्तेमाल करके एक सर्चलाइट की तरह कार्य करता है।

यदि विज्ञान का सर्चलाइट मॉडल सच्चा है तो वह आगमन के बारे में ह्यूम की चिन्ताओं के दम को काफी हद तक कमज़ोर कर देता है। इस लिए विज्ञान का केन्द्र-बिन्दु होने की बात तो दूर, अनुभवसिद्ध आधार पर निकाले गए सामान्य निष्कर्ष बुरी-से-बुरी सूरत में सिद्धान्त-विकास के लिए प्रस्थान-बिन्दु होते हैं, और सबसे बेहतर सूरत में एक सिद्धान्त की भविष्यवाणियों को जाँचने का आधार हो सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान में सिद्धान्त निरंकुश या मनमाने होते हैं। हमारे सिद्धान्त इस संसार का वैसा ही वर्णन करने का दावा करते हैं जैसा हम उसे अनुभव करते हैं, और उनकी वैधता का प्रमाण-चिन्ह उस संसार की भविष्य की अवस्थाओं का सही वर्णन तथा भविष्यवाणी करने की उनकी सामर्थ्य है।

एक मिसाल - आनुवंशिकता

जैव-विकास के सिद्धान्त का प्रारम्भिक इतिहास इन प्रक्रियाओं का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राकृतिक चुनाव पर आधारित डार्विन

का जैव-विकास का सिद्धान्त जीवविज्ञान में एक महत्वपूर्ण ढाँचागत सिद्धान्त है (वास्तव में तो क्वांटम भौतिकी के बाद यह विज्ञान का दूसरा सबसे सफल सिद्धान्त है)। लेकिन वास्तविक संसार में इसका कार्य वंशजता की एक ऐसी प्रक्रिया (मेकैनिज़म ऑफ़ इन्हेरिटेंस) पर निर्भर है जिससे वो प्रभाव पैदा हो सकें जिनका डार्विन ने निष्कर्ष निकाला था। अपने सिद्धान्त के इस विशेष हिस्से ने डार्विन को काफी अधिक दिक्कत में डाला था और उन्हें काफी आलोचना का भी सामना करना पड़ा था। उन्होंने *ऑरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़* के पहले संस्करण से दूसरे तक पहुँचने के दौरान अपना मन बदला और अन्त में वंशजता के उस रूप पर आ कर ठहरे जिसे उन्होंने *पैजेनेसिस* का नाम दिया। इस सिद्धान्त के मुताबिक शरीर की प्रत्येक कोशिका अपना बहुत ही छोटा-सा प्रातिनिधिक अंश शुक्राणु या अण्डे के लिए योगदान में देती है और माँ-बाप द्वारा किए गए योगदान गर्भधारण के समय एक-दूसरे के साथ मिश्रित हो जाते हैं।

डार्विन शायद ही इससे अधिक गलत हो सकते थे। वास्तव में तो उनके कई समकालीनों को यह स्पष्ट था कि वंशजता का उनका सिद्धान्त घातक रूप से दोषपूर्ण था - इसके फलस्वरूप व्यक्ति विशेषों में सब प्रकार के अन्तर जल्दी ही समाप्त हो जाएँगे जबकि प्राकृतिक चुनाव का डार्विनियन



मेण्डल का प्रयोग व अवलोकन

मेण्डल भाग्यशाली थे कि उन्होंने मटर के पौधे ही चुने: इनकी आनुवंशिकता बहुत ही सरल होती है। यदि मेण्डल ने यही प्रयोग इन्सानों पर किए होते तो वैसे ही प्रभाव सिद्ध करने में उन्हें काफी अधिक मुश्किल होती। हालाँकि इन्सान की चमड़ी का रंग भी विशेष जीन्स के माध्यम से सीधे मेण्डेलियन तरीके द्वारा निर्धारित होता है, मटर के पौधों के मुकाबले यहाँ कई अन्य जीन्स की भी भागीदारी होती है। तकरीबन आठ विभिन्न जीन्स के प्रभावों को इकट्ठा जोड़ने का नतीजा इन्सानों में रंगों के विभिन्न शेड (गहरा या हल्कापन) के रूप में सामने

आता है। इससे लगता है कि रंगों का मिश्रण ही हो रहा है, जैसा कि डार्विन मान कर चले थे, लेकिन यह तो केवल ऊपरी तौर पर दिखने वाला प्रभाव है। चमड़ी के रंग को तय करने वाले कारक (या जीन्स) बने रहते हैं और बिना अपना रूप-स्वरूप बदले अगली पीढ़ी तक जा सकते हैं।

सिद्धान्त इन्हीं अन्तरों पर निर्भर करता था। अन्त में भ्रूणविज्ञान तथा आनुवंशिक विज्ञान के क्षेत्रों में किए गए आधी सदी के सघन कार्य ने पैंजेनेसिस के तर्काधार को पूरी तरह से कमजोर कर दिया। इसी के फलस्वरूप डार्विन के जैव-विकास के सिद्धान्त का महत्व उन्नीसवीं सदी के अन्त के आते-आते घटता चला गया। लेकिन सन् 1900 में पौधों सम्बन्धी वंशानुक्रमण पर मेण्डल द्वारा किए गए काम ने डार्विन के सिद्धान्त में फिर से दिलचस्पी जगा दी: डार्विन के जीव

विकास के सिद्धान्त को सफल बनाने के लिए मेण्डल के वंशानुक्रमण सिद्धान्त की ही आवश्यकता थी। मेण्डल ने मटर के पौधों पर किए गए विस्तृत अध्ययन के आधार पर दिखा दिया था कि बीज का रंग तथा बुनावट जैसी विशेषताएँ एक खास तरह से ही विरासत में पाई जाती हैं: हरे या पीले बीजों वाले पौधों के संकरण (क्रॉसिंग) द्वारा उत्पन्न बीज हरे होते हैं या फिर पीले, वे कभी भी दोनों रंगों का मिश्रण नहीं होते। इसके अलावा, इस प्रकार के अन्तर-प्रजनन (क्रॉस

